(22)

न्यायिक सक्रियता के शिकार हो गए—

अनायास लाखों वनवासी और वन्य जीवन

—आशीष कोठारी

देश के सर्वोच्च न्यायालय के हाल ही के एक आदेश ने अनजाने में ही, वास्तविक परिस्थितियों के प्रति आश्चर्यजनक अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हुए देश के कोई 30 लाख लोगों तथा असंख्य वन्य जीवों को एक ऐसे भविष्य की तरफ धकेल दिया है जिसमें उनके लिए कष्ट के सिवा और कुछ नहीं है। विडंबना की बात यह है कि यह आदेश उस याचिका पर पारित किया गया है जो पर्यावरण संगठन वर्ल्ड वाइड फंड फॉर नेचर द्वारा दायर की गई थी। इस संगठन ने गत वर्ष उक्त याचिका द्वारा माननीय अदालत से अनुरोध किया था कि वह राज्य सरकारों को उस वन्य-जीवन संरक्षण अधिनियम को पूरी तरह लागू करने को निर्देशित करें जो संरक्षित इलाकों के वन्य जीवों की हिफाजत के लिए बनाया गया था। उक्त संरक्षित क्षेत्र जिसमें पिछली गणना के मुताबिक देश के कोई 80 राष्ट्रीय उद्यान तथा 443 अभयारण्य शामिल है, में भारत के कुल क्षेत्रफल का 4.8 प्रतिशत हिस्सा आता है। ज्ञातव्य है कि इन क्षेत्रों में न केवल देश की बची खुशी जैव-विविधता केन्द्रित है बल्कि वे जल वैज्ञानिक चक्रों को नियमित करने, नदियों के जल ग्रहण क्षेत्रों को स्थिरता प्रदान करने, मिट्टी संरक्षण तथा उसकी उर्वरता बनाए रखने जैसे नाजुक पारिस्थितिकीय कार्य संपादित करते हैं। सच तो यह है कि यदि ये इलाके नहीं होंगे तो देश की जलवायु-प्रणाली गड़बड़ा कर कृषि-उत्पादन की स्थिति भी बदतर हो जाएगी। यदि इन इलाकों को उक्त वन्य-जीवन अधिनियम के तहत संरक्षण नहीं प्रदान किया तो देश की तहस-नहसकारी औद्योगिक तथा व्यापारिक ताकतें इन प्राकृतिक आश्रय स्थलों को निगल जाएंगी।

विश्व वन्य जीवन कोष (डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ.) की उक्त याचिका ने अदालत का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि संरक्षित क्षेत्रों के बारे में वन्य अधिनियम में विहित अनेक प्रक्रियाओं का पालन नहीं किया गया है। ऐसे संरक्षित क्षेत्र बहुत ही थोड़े हैं जिनके पास उनके सुचारू प्रबंध के लिए जरूरी पर्याप्त आदमी, उपकरण तथा अन्य संसाधन हों। विगत कुछ बरसों के दौरान राज्य सरकारों ने इन क्षेत्रों को व्यापारिक तथा औद्योगिक उद्देश्यों के लिए खोल देने या उन्हें सीधे-सीधे वि-अधिसूचित करने में कोई संकोच नहीं बरता है। मसलन, हिमाचल प्रदेश में ढाचीघाट अभयारण्य तथा गुजरात में नारायण सरोवर अभयारण्य को सीमेंट-फैक्ट्रियां स्थापित करने के लिए वि-अधिसूचित किया गया।

अन्य चीजों के अलावा अधिकांश राज्य सरकारों ने इन क्षेत्रों के भीतर तथा आसपास रहने वालों के अधिकार निर्धारित करने के काम के बारे में लापरवाही बरती है। उक्त अधिनियम में स्पष्ट प्रावधान है कि जिला कलेक्टर राज्य के वन्य जीव अधिकारियों से परामर्श करते हुए ये अधिकार तय कर उन लोगों के भविष्य का इंतजाम अनिवार्यतः करेगा। राष्ट्रीय उद्यानों में तो वहां हर प्रकार की मानवीय गतिविधियां बंद की जाएं तथा अभयारण्यों के मामले में कुछ अधिकार जारी रखने दिए जा सकते हैं, बशर्ते ऐसे कार्य वन्य-जीवों के लिए लाभप्रद बतलाए गए हों।

सर्वोच्च न्यायालय ने दलीलें सुनने के पश्चात अगस्त 1996 में सभी राज्य सरकारों से कहा कि वे एक वर्ष के भीतर सारी बंदोबस्त प्रक्रियाएं निपटा लें। ऊपर से देखने पर तो यह आदेश संरक्षणवादियों की जीत नजर आता है लेकिन वास्तव में इससे समस्याएं और ज्यादा बढ़ेंगी। इसके संकेत मध्यप्रदेश के उन संरक्षित क्षेत्रों में मिलने भी लगे हैं जहां पूर्व की केवल इसी राज्य से संबंधित एक याचिका (प्रदीप किशन के विरुद्ध भारत सरकार) के अधीन कार्रवाई शुरू हो चुकी है। वहां कलेक्टरों ने संरक्षित क्षेत्रों में आने वाले ग्रामों को नोटिस जारी किए और तत्काल वहां असंतोष तथा विरोध के स्वर उठने लगे। कारण बड़ा सीधा-सा है, ग्रामवासियों ने इन नोटिसों को उनके परंपरागत रहवासों में बसने के उनके अधिकार पर हमले की तरह लिया है।

दरअसल विश्व वन्य जीव कोष की याचिका तथा विद्वान न्यायाधीशों के आदेश दोनों को जमीनी यथार्थ का कोई आभास नहीं प्रतीत होता है। भारत के संरक्षित क्षेत्रों के भीतर कोई तीस लाख लोग रहते हैं तथा वे अपने अस्तित्व के लिए स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों पर ही लगभग पूरी तरह निर्भर करते हैं। देश के कुल संरक्षित क्षेत्रों में से ज्यादा के भीतर बस्तियां हैं तथा दो तिहाई में लोगों को स्वामित्व अधिकार लीज या रियायतें प्राप्त हैं। हालांकि कई मानवीय उपयोगों की प्रशासनिक तथा कानूनी स्थिति अस्पष्ट है — विशेष रूप से इसलिए कि इन अधिकारों के अधिकृत अभिलेख ठीक से नहीं रखे गए हैं। बल्कि

बल्कि कई परंपरागत अधिकारों को तो कोई मान्यता तक नहीं प्राप्त है। परिणामतः जांच-पड़ताल यदि बिलकुल सलीके से की गई तो भी उससे ग्रामवासियों के साथ घोर अन्याय ही होना है।

लेकिन, अव्वल तो जांच-पड़ताल ही खराब ढंग से होती है। सेमरसोट और म.प्र. के अन्य अभयारण्यों में प्रति ग्राम केवल एक ही नोटिस भेजा गया है और बतलाया जाता है कि मात्र दो माह के भीतर ही मुआवजे के दावे लोगों ने ठोक दिए। चूंकि इन इलाकों के अधिकांश गांव ज्यादातर आदिवासियों के हैं, बड़ी आसानी से समझा दिया जा सकता है कि ये बेदखली के नोटिस हैं। अधिकारियों के द्वारा इस भ्रम को दूर करने के यत्र-तत्र कुछ थोड़े से प्रयास किए गए हैं। मसलन रायपुर मंडल में वन संरक्षक (वन्य जीव) ने इस आशय के पोस्टर लगवाए हैं कि केवल इच्छुक निवासियों को ही पुनर्वासित किया जाएगा तथा इसके लिए उन्हें प्रति परिवार रुपए एक लाख दिए जाएंगे। उसने यह वचन भी दिया है कि यदि इस तरह का पुनर्वसन जरूरी हुआ तो इसके लिए आरक्षित वन-भूमि उपलब्ध की जाएगी। दूसरी तरफ कुछ सदाशयी लेकिन कानून से अनभिज्ञ उन सामाजिक कार्यकर्ताओं जिनका लोगों पर कुछ प्रभाव है ने यह खबर फैला दी हैं कि यह प्रक्रिया विशाल विस्थापन की शुरूआत है।

उक्त नोटिसों में वास्तव में बेदखली का उल्लेख तो नहीं है तथापि, इस प्रक्रिया का परिणाम अन्ततः यही होगा। जरा इस पर विचार करें—सेमरसोत जैसे इलाकों में जिलाधीश द्वारा जारी नोटिसों में कहा गया है कि एक मर्तबा अन्तिम नोटिस जारी होने के बाद किसी भी व्यक्ति को उस इलाके से गैर इमारती लकड़ी वनोपज एकत्र नहीं करने दी जाएगी। किसी भी ऐसे आदिवासी के लिए जिसके जीवन का आधार ही फल, गोंद, शहद, पत्तियां, पुआल आदि जैसी गैर-काष्ठीय वनोपज होती हैं यह चीज वैसी ही जैसे किसी शहरी से यह कहा जाए कि उन्हें उनके घरों में तो रहने दिया जाएगा लेकिन उन्हें बिजली, पानी या रसोई घरों की सुविधा उपलब्ध नहीं होगी। अधिकांश वनवासियों के लिए बात जबरन बेदखली जैसी होगी।

मध्यप्रदेश में जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए संभावना यही है कि अन्य सभी संरक्षित क्षेत्रों में होगा यह कि नोटिस जारी होंगे, लोग उन्हें बेदखली आदेश समझेंगे या उन्हें लगेगा कि आजीविका संसाधन तक उनकी पहुंच बन्द हो जाएगी, विरोध के स्वर जन आंदोलन का रूप लेंगे, राजनीतिक दल इन क्षेत्रों को वि-अधिसूचित करने की मांग के साथ उसमें कूद पड़ेंगे, वन-कर्मियों तथा जनता के बीच पहले से मौजूद टकराव, हिंसक-झड़पों में बदलेंगे और ग्रामवासी संरक्षित वनों के औचित्य से पीछा छुड़ाने के लिए जब वन्य जीवों को जहर दे-दे कर मारना शुरू कर देंगे तो जिलाधीश उत्तरोत्तर काबू से बाहर होती स्थिति में अपने असहाय हाथ ऊंचे कर देंगे। ऐसी बातें होनी शुरू हो भी गई हैं। सेमरसोत अभयारण्य में हाल ही में कोई 20 हजार आदिवासियों ने रेलियां की और भोपाल में विधान सभा के सामने विराट धरना आयोजित किया।

सच तो यह है कि संरक्षणवादी यदि यह समझ रहे हैं कि उन्होंने एक बड़ी जीत हासिल की है तो बेहतर होगा कि वे एक मर्तबा फिर सोचें। इस प्रक्रिया की अन्तिम परिणति न केवल लाखों लोगों की बदहाली के रूप में होगी बल्कि वह खुद संरक्षित क्षेत्रों के संजाल को ही छिन्न-भिन्न कर देगी। जिलाधीशों के लिए सबसे आसान रास्ता तो तब यह होगा कि वे संरक्षित इलाकों

(शेष पृष्ठ 3 पर)

न्यायिक सक्रियता के ... ...

(पृष्ठ 2 का शेष)

के ऐसे हिस्सों को अलग काट फेंक जिनके भीतर बस्तियां है। अदालत के उक्त आदेश के तत्काल बाद दिल्ली में प्रमुख मुख्य वन संरक्षकों की जो बैठक हुई उसमें स्पष्ट रूप से खतरे को चिन्हित किया गया। इस बैठक में यह चेतावनी भी दी गई कि मौजूदा हालातों में बन्दोबस्त प्रक्रिया को यदि एक वर्ष में निपटाने की कोशिश की गई तो स्थानीय जन संरक्षण की कोशिशों के एकदम खिलाफ हो जायेंगे। दरअसल वन संरक्षकों की शंकाएं बिल्कुल सही हैं—राजस्थान में फुलवारी की नाल अभयारण्य के एक ग्राम सरपंच ने उच्च न्यायालय में एक याचिका पेश कर अभयारण्य-अधिसूचना को रद्द करने की मांग की है।

वैसे, इस स्थिति से अब भी बचा जा सकता है। इसके लिए जरूरी यह है कि संरक्षित क्षेत्रों में जन-अधिकारों के निर्धारण और निपटारे की प्रक्रिया को पूरी तरह भागीदारी-आधारित बना दिया जाए। प्रत्येक संरक्षित क्षेत्र में जिला प्रशासन वन विभाग स्थानीय गैर सरकारी संगठनों तथा अनुसंधान-समूहों के प्रतिनिधियों के एक दल को समूचा अगला वर्ष वहां के प्राकृतिक-संसाधनों के उपयोगों को निर्धारित करने में लगा (केवल सरकारी दस्तावेजों में दर्ज उपयोगों को अभिलिखित कर ही उन्हें नहीं रुक जाना चाहिए।) उन्हें इन उपयोगों का विश्लेषण कर उनके पारिस्थितिकी - प्रभाव संकेतकों का सही आकलन करना होगा। इसके बाद ही यह दल तय करे कि इन क्षेत्रों में कौन-सी मानवीय गतिविधियां आगे जारी रहे और कौन-सी नहीं। यह दल व्यवस्थित ढंग से काम कर सके इसके लिए मार्गदर्शक सिद्धांत जल्द ही तैयार करने होंगे। बेहतर यह होगा कि उक्त प्रक्रिया पहले कुछ चुनिंदा संरक्षित इलाकों (मसलन, हर राज्य में से एक) में आजमाई जाए तथा उसके सबकों का इस्तेमाल देश के बाकी संरक्षित क्षेत्रों में किया जाए। मेलघाट बाघ अभयारण्य में गैर सरकारी संगठनों के एक दल ने पिछले कुछ महीने यही करते हुए गुजारे हैं और उसके अनुभव अन्य इलाकों के लिए बहुमूल्य साबित हो सकते हैं। इसी तरह अन्तत संरक्षण क्षेत्रों के संयुक्त या भागीदार-प्रबन्ध की एक ऐसी प्रणाली तैयार की जा सकती है जो प्राकृतिक रहवासों तथा वन्य जीवों के संरक्षण में दिलचस्पी रखने वाली ताकतों के बीच सहयोग के सेतु निर्मित कर सकेगी। स्थानीय जनों का हित साधन संरक्षण के प्रति क्षीण होते जा रहे जन तथा राजनीतिक समर्थन को वापस जिंदा करके ही किया जा सकता है। मात्र इसी विशिष्ट संदर्भ में वन्यजीवों के रहवासी इलाकों के सुरक्षा-कर्मियों को और अधिक अधिकार और हथियार देने की मांग को उचित ठहराया जा सकता है।

उधर विश्व वन्य जीव कोष ने कहा गया है कि वह अदालत के जन अधिकार निर्धारण की प्रक्रिया गठित करने का अनुरोध करे लेकिन अब तक यह संस्था इसके प्रति अनिच्छुक है। यदि वह अपने आदर्शवादी रुख से जल्द पीछा नहीं छुड़ाएगी तो फिर यही सही लेकिन तब संरक्षण के इतिहास में उसे एक ऐसे संगठन के रूप में ही याद किया जाएगा जो जनता और वन्य जीवों के बीच की खाई को और ज्यादा गहरा करने और पहले से जर्जर संरक्षित क्षेत्र संजाल को कुतर फेंकने के लिए मूलत: उत्तरदायी था। (सप्रेस)